पंक्ति संख्या

नैष्कर्म्य-सिद्धि

श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय सं० ३ श्लोक सं० ४ में भगवान् ने कहा है कि -

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।

अर्थात्, *'मनुष्य न तो कर्मों का आरम्भ किये बिना निष्कर्मता (यानी योगनिष्ठा) को प्राप्त होता है और न कर्मों के केवल त्यागमात्र से सिद्धि (यानी सांख्यनिष्ठा) को ही प्राप्त होता है।।'*

इससे पूर्व, श्लोक सं० ३ में भगवान् ने कहा था कि मनुष्य-जीवन के एकमात्र लक्ष्य भगवत्प्राप्ति की साधना के लिये दो निष्ठाओं में से एक निष्ठा में दृढ़ स्थिति होना आवश्यक है। ये दो निष्ठायें योग-निष्ठा तथा सांख्य-निष्ठा कहलाती हैं। इनमें से प्रथम के लिये कर्मयोग का साधन और दूसरी के लिये ज्ञान-योग का साधन आवश्यक है। उपरोक्त श्लोक की प्रथम पंक्ति कर्म-योग के और दूसरी पंक्ति ज्ञान-योग के सम्बन्ध में है।

देहधारी होने के कारण, प्रत्येक मनुष्य के द्वारा हर समय किसी न किसी कर्म का सम्पादन तो होता ही है (गीता २/४७ तथा ३/५)। पर दोनों योगों में **स्वार्थ भाव अर्थात् निज-सुख का उद्देश्य होना बाधक ही नहीं अपितु अत्यन्त घातक है।** कारण, निज-सुख का भाव उतना ही परिश्रम की प्रेरणा देता है कि जिससे अपने शरीर को आराम प्राप्त हो। यदि सावधानी न हो तो इससे अधिक परिश्रम करने में अनिच्छा रहती है। सामान्य रूप से कर्म करने वाला उनके फल भोगने को विवश हो जाता है। फल-भोग से फिर नवीन कर्म होते हैं और इस प्रकार मनुष्य जन्म-मृत्यु के अनन्त चक्र में फंस जाता है। इसके विपरीत, उपरोक्त श्लोक में यह बताया गया है कि कर्म होते हुए भी वे कर्म किस प्रकार मनुष्य के लिये बन्धनकारी नहीं होते, अपितु इसी जन्म में उसके लिये मोक्ष का साधन बन जाते हैं। कर्म करने की इस विशिष्ट शैली को ही "नैष्कर्म्य" (अर्थात् निष्कामता) तथा "सिद्धि" कहा जाता है।

कर्म-योग : कर्म-योग में कर्मों का सम्पादन करना आवश्यक है, किन्तु वे कर्म शास्त्रानुमोदित अर्थात् लोकसंग्रह के लिये होने चाहिये।। इसलिये कर्म-योग में कर्तापन का **भाव** तो होता है, किन्तु कर्तापन का **अहंकार** नहीं होता अर्थात् यह अहंकार कि "मैं नहीं करूँगा, तो काम कैसे होगा" तथा, "ऐसा कर्म करने से मुझे लाभ होगा" - यह विचार नहीं होता। उदाहरणार्थ- एक सेवक अपने स्वामी द्वारा बतायी गयी सामग्री बाज़ार में क्रय करते समय दुकानदार को यह तो बताता है कि मुझे अमुक सामग्री चाहिये किन्तु मन में भली प्रकार जानता है कि वह सामग्री अपने स्वामी के लिये क्रय कर रहा है, न कि अपने लिये। सामग्री से सेवक का कोई भी लाभ-हानि का सम्बन्ध नहीं होता।

ज्ञान-योग : ज्ञान-योग में कर्तापन का **भाव** ही नहीं होता। फिर अहंकार होने का तो प्रश्न ही नहीं होता। ज्ञान-योगी इस भाव में स्थिर होता है कि सारे कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा उसके शरीर से किये जा रहे हैं, जो प्रकृति का ही अंश है। वह अपने को स्वयं आत्मस्वरूप जानते हुए अपने शरीर से सर्वथा असंग रहता है। इस प्रकार उसके द्वारा कर्मों का स्वरूप से त्याग अर्थात् कर्म-संन्यास हो जाता है, परन्तु केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। कर्तापन के भाव ही का त्याग होना चाहिये। जैसे, वायु चलने से एक वृक्ष की पत्तियाँ भी हिलने लगती हैं, यद्यपि वृक्ष उन्हें हिलाता नहीं है। इसी प्रकार प्रकृति के गुणों द्वारा उसके शरीर से शास्त्रानुमोदित कर्म ही होते रहते हैं, क्योंकि उसमें काई कामना या आसक्ति होती ही नहीं, जो सारे पापों का मूल हैं (गीता ३/३७)। इसके लिये मन में उत्कट वैराग्य होना आवश्यक है।

उपरोक्त कारणों से भगवान् ने प्रस्तुत श्लोक की प्रथम पंक्ति में कर्मयोगी के लिये वैराग्य की कमी होते हुए भी, केवल लोकहित के लिये कर्म करने से कर्मों में तथा उनके फल में आसक्ति का त्याग होना सम्भव बताया है। दूसरी पंक्ति में ज्ञानयोगी में उत्कट वैराग्य होने के कारण आसक्ति का त्याग स्वतः होना बताया है।

निष्कर्ष - अ० १८ में श्लोक सं० ४१ से ४८ तक कर्मयोग से तथा श्लोक सं० ४९ से ५४ तक सांख्ययोग से नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त होने की बात कही गयी है।